

प्रेमचंद की रचनात्मक व्यापकता

डॉ. रूपा सिंह,

एसोसिएट प्रोफेसर (हिन्दी),
बाबू षोभाराम राजकीय स्नातकोत्तर कला महाविद्यालय,
अलवर (राजस्थान)

सार

प्रेमचंद के पूर्ववर्ती लेखकों ने उपन्यास को या तो शिक्षा और उपदेश के लिये अपनाया था या फिर मनोरंजन के लिये। भारतेन्दु युग में गद्य की जो अनेक विधायें जन्म लेती हैं, उनमें से किसी के लिये भी अपनी प्रतिष्ठा और स्वीकार्यता की वैसी लड़ाई नहीं लड़नी पड़ी जैसी उपन्यास को प्रेमचंद से पहले किशोर पाठकों को उपन्यास पढ़ने की मनाही थी। प्रेमचंद की पहले लेखक थे। जिन्होंने एक सह विकसित कलाहय के तौर पर उपन्यास की प्रतिष्ठा और स्वीकार्यता की लड़ाई लड़ी और दूर तक सफल हुये। उन्होंने ही उपन्यास को सामाजिक और राष्ट्रीय सवालों से जोड़ा और उसकी कलात्मकता का विकास भी किया।

मुक्तिबोध ने कहीं सच्चे साहस की पहचान बताते हुए उसे जनता के साहित्य का नाम दिया है। उनके अनुसार जनता के साहित्य से अर्थ है—'ऐसा साहित्य, जो जनता के जीवन—मूल्यों को जनता के जीवनादर्शों को प्रतिष्ठापित करता हो, उसे अपने मुक्तिपथ पर अग्रसर करता हो। इसके लिए ऐसी कला का विकास हो जिससे जनता प्रेरणा प्राप्त कर सकें और जो स्वयं जनता से प्रेरणा ले सकें।

जनता से सच्चा तादात्म्य ही साहित्य को अमर बना देता है। तुलसी और प्रेमचंद जनता के इसी साहित्य को रचने के कारण अमर है। समय बीत गया, युग बदल गये, तद्युगीन प्रायः सभी सामंती मूल्य टूट-फुट चुके। आज उनकी कोई प्रासंगिकता भी नहीं रह गई है। बावजूद इसके कि जनता के लिए अब भी वे मूल्य सर्वाधिक प्रिय हैं। उन मूल्यों को जिंदगी से निकाल फेंकना उनके लिए वैसे ही असंभव है जैसे किसी जातीय गुण को उस जाति से। उनकी जन-भाषा और वह जन-कला जिसमें अपनी बात को जनता तक

पहुचाने के लिए वे जनता के अपने बने और उनके सांस्कृतिक स्तर तक उतरकर वहां से उन्हें उठाने का उपक्रम किया—यही बात उन्हें ऐतिहासिक सार्थकता युगसापेक्ष होती है, और उस युग के दस्तावेज की तरह काम करती है। यही दस्तावेजी गुण एक रचना को अमर बनाता है और इतिहास उसे सदा सुरक्षित रखता है। साहित्य का यह सबसे महत्वपूर्ण कन्सर्न है।

प्रेमचंद की रचनात्मक व्यापकता कितनी गहन है इसका उदाहरण उन देशी-विदेशी भाषाओं में होने वाले उनकी कृतियों के अनुवाद से चलता है। जिसमें आज भी करोड़ों की संख्या में लोग उन्हें पढ़कर अपने समय और युग की विसंगतियों को समझना चाहते हैं। तेलुगू में तो एक प्रेमचन्द पब्लिशिंग हाउस ही है, जो केवल प्रेमचंद-साहित्य प्रकाशित करता है। आज कोई भी विश्वविद्यालयी पाठ्यक्रम उन्हें सम्मिलित किए बिना अधूरा माना जाता है। तमाम विवशताओं और विरोधों के बावजूद, बगैर किसी धार्मिक

आसंग के सीधे जनता के हरदय तक पैठ जाने वाला लेखक प्रेमचंद के सिवाय और कौन है ?

प्रेमचंद की पहली और अंतिम प्रतिबद्धता अपने देश और साधारण जन के लिए है। जैसा उन्होंने स्वयं उसकों देखा, जाना, समझा, झेला वैसा ही अंकित कर दिया, पूरे हिन्दी साहित्य में केवल प्रेमचंद साहित्य ही है जो उस युग की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थितियों का दस्तावेज प्रस्तुत करता है। वह पूरा युग आंदोलनों का था। सामाजिक सुधार के आंदोलन, धार्मिक आंदोलन आदि सभी प्रकार के आंदोलन जिनमें राष्ट्र और राष्ट्र की जनता प्रभावित होकर क्रियाशील हुई, गुलामी की जंजीरों को तोड़ फेंकने को कटिबद्ध हुई, एक नये जीवन की ओर उन्मुख हुई, वह सब प्रेमचंद-साहित्य में रचनात्मक स्तर पर रूपायित हुआ है। जैसे-जैसे समाज चेतना के स्तर पर आगे बढ़ता गया, प्रेमचंद भी उसके साथ-साथ आगे बढ़ते ही नहीं गए बल्कि एक मषाल की भांति पूरी स्थितियों को प्रतिभासित किये, रोषनी दिखाने का प्रयत्न करते रहे। प्रेमचंद साहित्य की बहुरूपता के ये मुख्य कारण हैं।

समय की उस मांग के अनुसार, प्रेमचंद साहित्य में दो गूँज बड़ी मुखरता से अपनी आवाज बुलंद करती है। जिसमें एक तो है देश-प्रेम और राष्ट्र की मुक्तिकामी चेतना और दूसरा है-महाजनी सभ्यता को खत्म करने का आह्वान। सन् 1930 में 'विषाल भारत' में अपनी लेखकीय प्रतिबद्धता के बारे में उन्होंने लिखा-

मेरी अभिलाषा बहुत सीमित है। इस समय सबसे बड़ी अभिलाषा यही है कि हम अपने स्वतंत्रता-संग्राम में सफल हों। मैं दौलत और शोहरत का इच्छुक नहीं हूँ। खाने को मिल जाता है। मोटर और बंगले की मुझे लालसा नहीं है। हाँ, यह जरूर चाहता हूँ कि दो-चार उच्च कोटि की रचनाएं छोड़ जाऊँ, लेकिन उनका उद्देश्य भी स्वतंत्रता प्राप्ति ही हों।

इसी प्रकार महाजनी सभ्यता को खत्म करने का दृढ संकल्प 'हंस, सितंबर, 1936 में छपे 'महाजनी सभ्यता' नामक आलेख से स्पष्ट होता है-

'जो शासन-विधान और समाज-व्यवस्था एक देश के लिए कल्याणकारी है, वह दूसरे देशों के लिए भी हितकर होगी। हाँ, महाजनी सभ्यता और उसके गुर्गे अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेंगे, उसके बारे में भ्रमजनक बातों का प्रचार करेंगे, जन-साधारण को बहकावेंगे, उसकी आंखों में धूल झोंकेंगे, पर जो सत्य है, एक न एक दिन उसकी विजय होगी और अवष्य होगी।

प्रेमचंद पर राजनैतिक अस्थिरता के बहुत से आरोप लगाए गए हैं। उनकी पुनरुत्थानवादी रचनाएं (जैसी रानी सारन्धा अनमोल वचन) सुधारवादी रचनाएं (यथा-प्रेमा सेवासदन आदि) हरदय -परिवर्तनवादी (जैसे-बड़े घर की बेटी, नामक का दारोगा आदि) आदर्शवादी(पंच परमेश्वर, ईदगाह) आदर्शोन्मुख यथार्थवादी(यथा-रंगभूमि, प्रतिज्ञा) आदि पर गांधीजी दर्शन का आरोप लगाया जाता रहा है। यह सच है कि महात्मा गांधी न केवल राजनीति में अपने प्रयोगों और आदर्शों से इतिहास को बदलने की चेष्टा कर रहे थे अपितु साहित्य में भी उनका प्रभाव करिश्माई रूप से छाया हुआ था, लेकिन जैसा मैंने पहले ही लिखा है कि युग के साथ चलने वाले प्रेमचंद के पास अद्भुत रचनात्मक सूक्ष्म दृष्टि थी और इसीलिये नये पुरोधे नेहरू की समाजवादी व्यावहारिकता को समझने में उन्होंने तनिक देर नहीं लगाई कि इतिहास में कोई एक बात सिद्ध होती है तो वह यह है कि आर्थिक हित ही समूहों और वर्गों के दृष्टिकोण के निर्माता होते हैं। पूर्णतः परिपक्व कला दृष्टि के साथ अब अवतरित होती है-गोदान, कफन, पूस की रात जैसी यथार्थवादी रचनाएं जहा कोई समाधान थोपा नहीं जाता, ट्रस्टीशिप के सिद्धांत नहीं, आदर्श का माफिया इंजेक्शन नहीं बल्कि रही जाती है। एक

स्तब्ध संवेदना, सामाजिक विषमता की निर्मम सच्चाइयां। असीम संभावनाओं से युक्त मानव जीवन साम्राज्यवादी चालाकियों के तहत कितना छोटा, असहाय, शोषित और लाचार बना दिया जाता है कि जीवन के मासूम सपनों की मौत तक उसकी संवेदना को स्पंदित नहीं कर पाती। समाज का अमानवीय चरित्र खुलकर सामने आता है। प्रेमचंद मानव को पशु से भी बदतर बना देने वाली उपनिवेशों नीतियों की पूरी चालाकियों को मांपने का प्रयत्न करते हैं और रचनात्मक औजारों से स्थितियों और वर्गों की चीरफाड़ी पडताल पर जिस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं, वह है—सामाजिक मानव की पीडाओं यातनाओं का चित्रण करना और उसके लिए उत्तरदायी सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्थाओं की जड पर ही आघात करना। इसी क्रम में जब उन्हें कांग्रेस के वर्गीय स्वभाव और राजनीतिक चालबाजियों का आभास मिलता है तो बड़ी दृढता से वे इसका प्रतिकार करते हैं। वे कहते हैं—

‘अगर स्वराज्य आने पर भी संपत्ति का यही प्रमुख रहे और पढा-लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे तो ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा। जिन बुराइयों को दूर करने के लिए हम प्राणों को हथेलियों पर लिए हुए हैं, उन्हीं बुराइयों को क्या प्रजा इसलिए सिर चढाएगी कि वे विदेशी नहीं, स्वदेशी हैं। कम से कम मेरे लिए तो स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है कि जॉन की जगह गोविन्द बैठ जाये। मैं समाज की ऐसी व्यवस्था देखना चाहता हूँ। जहाँ कम से कम विषमता और आश्रय मिल सकें।

गांधी के प्रति पूरी श्रद्धा और सम्मान रखते हुए भी जरूरत पडने पर उन्होंने गांधीजी का विरोध करने का साहस दिखाया। गांधीजी जब हरिजनों के प्रति किए गए अत्याचारों को बिहार के भूकम्प का कारण बता रहे थे, तो प्रेमचन्द ने तत्काल हंस की संपादकीय टिप्पणी में उनसे पूछा—“और जो हरिजन बिहार—भूकम्प में

भरे उन्होंने किन पर अत्याचार किए थे? उसके बाद उन्होंने भोली जनता को भी चेताया—भूकम्प का कारण पाप—पुण्य नहीं होता, उसके अपने वैज्ञानिक कारण होते हैं। इसी प्रकार, जब रूस की क्रांति का स्वागत करने और किसानों—मजदूरों के राज्य की हिमायत करने पर लोगों ने उन्हें मार्क्सवादी पार्टी के साथ जोड कर सीमित कर देना चाहा तो उन्होंने अपना सीधा रिश्ता जनता से जोड़ा और मुंशी दयाराम निगम को पत्र में लिखा—

“आपने मुझसे पूछा था कि मैं किस पार्टी के साथ हूँ मैं किसी पार्टी में नहीं हूँ। इसलिए कि इस वक्त दोनों में से कोई पार्टी असली काम नहीं कर रही है। मैं उस आनेवाली पार्टी का मेम्बर हूँ जो अवाम—अलवास की सियासी तालीम को अपने दस्तूरूल—अमल(व्यवहार का दस्तूर) बनाएगी।

जनता के दुःखों के राज से वे वाकिफ हो चुके थे और इसीलिए उनके समक्ष साहित्य के उद्देश्य कुछ और ही थे। उन्होंने लिखा है—

“जिस साहित्य में हमारे जीवन की समस्याएं न हो, हमारी आत्मा को स्पर्श करने की शक्ति न हों, जो केवल जिन्सी भावों में गुदगुदी पैदा करने के लिए या भाषा—चातुरी दिखाने के लिए रचा गया हो, वह निर्जीव साहित्य है, सत्यहीन, प्राणहीन। साहित्य में हमारी आत्माओं को जगाने की, हमारी मानवता को सचेत करने की शक्ति होनी चाहिए। वह साहित्य जो हमें विलासिता के नषे में डूबो दे—उससे निकल भागने में ही हमारा कल्याण है।”

क्या तमाम भक्तिकालीन रीतिकालीन और छायावादी कवियों का आदर्श यह था? निश्चित ही प्रेमचंद ने उस परंपरा को तोडकर अपनी प्रगतिवादी चेतना का प्रमाण दिया है। युग की पीड़ाओं को झेलते—रचते वे आने वाले युग की विभीषिकाओं के प्रति भी हमें सचेत कर रहे थे।

आज की जातिवादी राजनीति को मद्देनजर रखते हुए यह महत्वपूर्ण जान पड़ता है कि उनके कथा-साहित्य में वर्ग-संघर्ष तो है, जमींदारों-महाजनों, अंग्रेजी राज के हाकिमों के विरुद्ध संघर्ष भी है लेकिन अगड़ी-पिछड़ी जातियों के बीच कोई संघर्ष नहीं। क्या कहीं भी यह संकेत है कि बिरादरी के आधार पर सब लोग एक हो जाये तो उनका उद्धार हो जायेगा? जब इन्ही प्रेमचन्द को स्थानीय कायस्थ समाज का अधिपति घोषित किया गया तो उनकी आत्मा अवश्य चीत्कार कर उठी होगी, क्योंकि उनकी घोषणा थी।

“जो लोग बिरादरियों के संगठन पर जोर देते हैं, वे लोग गरीब किसानों और मजदूर वर्गों की एकता को तोड़ते हैं। वे पूंजीपतियों और जमींदारों के पिढुओं की भूमिका निभाते हैं जितना ही किसानों और मजदूरों के वर्ग-संगठन कमजोर पड़ते हैं उतना ही संप्रदायवाद मजबूत होता है।”

सांप्रदायिकता के घिनौने कांडों में झुलसते हमारे देश के लिए प्रेमचंद कितने प्रासंगिक हैं, यह उनके कथा-चरित्रों की सृष्टि से जाना जा सकता है जहां जाति या धर्म सवाल नहीं बनते। सवाल बनते हैं-उनका दलित होना, वंचित होना या फिर शोषित होना। हज-ए-अकबर की बूढ़ी अम्मा और ईदगाह के मासूम हामिद और अमीना बीबी मुस्लिम चरित्र होते हुए भी केवल मानवीय संवेदना के कारण निरपेक्ष भाव से अविस्मरणीय बन जाते हैं। इसी संदर्भ में 1933 की उस घटना को याद करना प्रासंगिक होगा। जब चतुरसेन शास्त्री ने मौसमी राजनीति की गर्माहट में ‘इसलाम का विषवृक्ष’ लिखकर ‘पॉप्यूलर’ होना चाहा। प्रेमचंद इससे बड़े आहत हुए थे और जैनेन्द्र जी को पत्र लिखकर कहा था-

भाषा के लिए श्री प्रेमचंद की यही रणनीति थी। जिंदगी की कहानी कहने के लिए

जिंदगी की भाषा आनी चाहिए। जिंदगी की यही भाषा तुलसी के पास थी और प्रेमचंद के पास भी थी। आम जिंदगी में आम-जन की बोलने वाली भाषा से बहुत दूर नहीं जाना चाहिए-प्रेमचंद को इस नब्ज की खूब पकड़ थी और इसीलिये उर्दू, हिन्दी के साथ देशज शब्दों, मुहावरों से सजी खालिस हिन्दुस्तानी भाषा ने उन्हें लोकप्रिय बनाने में कोई कसन नहीं छोड़ी।

अब राष्ट्रभाषा, राजभाषा की लड़ाई लड़नेवालों को कौन समझाए कि जीवन की ही तरह भाषा भी परिवर्तनशील है। एक विशेष युग में इसका एक मानक या आदर्श सर्वमान्य रूप तो प्रस्तुत किया जा सकता है पर बहती नदी की भांति भाषा को कसकर बांधना पूर्णतः अवैज्ञानिक है।

प्रेमचंद की प्रगतिशीलता पर अक्सर एक प्रश्नचिह्न लगाया जाता रहा है, वह है उनकी स्त्री-संबंधी दृष्टि को लेकर। कथानानुसार, वे स्त्री में सेवा, त्याग, करुणा जैसे गुणों को अनिवार्य मानते हुए उसे पुरुष से श्रेष्ठतर तो बताते हैं किंतु बराबरी का दर्जा नहीं देते। हो सकता है, “गोदान” में ‘मालती’ के आधुनिक तितली की अपेक्षा वे ‘गोविन्दी’ के आचरण को अनुकरणीय ठहराते हों, हो सकता है उन्होंने आधुनिक नारी के व्यवहार को जाने-अनजाने जीवादी विकृतियों से जोड़ लिया हो- लेकिन ऐसे पिटे-पिटाये पाठों के पुनर्पाठ से हम नये जमाने के तर्क क्यों नहीं गढ़ पाते? उस जमाने के प्रेमचन्द की रचनात्मकता के आगे हम सबों की प्रगतिशील रचनात्मकता को अंधे कुए में जा गिरती है, जब हम देख नहीं पाते कि प्रेमचंद के उपन्यासों की अनेक स्त्रियां, पुरुष को चेतावनी देती हैं कि वे उसका अत्याचार सहने की अपेक्षा आत्मनिर्भरता के पथ की कठिनाइयों को झेलने में अधिक सुख पाएंगी, क्या भारत को हर स्त्री घर-बाहर का सामंजस्य बनाये रखने में धनिया

की तरह फटकार लगा-लगाकर पति को मर्द नहीं बनाये रखती?

प्रेमचंद ने स्वयं प्रेम किया था और विधवा से विवाह भी किया था। इससे आगे बढ़कर जिस निर्मला को एक समय एन.सी.ई.आर.टी. ने पाठ्यक्रम से निकाल बाहर करने में मुहं की खाई थी वहां एक स्त्री प्रेम करने की स्वतंत्रता की मांग जिन मार्मिक और बोल्ड स्वरों में करती है वह मुंशी तोताराम सहित कई मर्दवादी चिंतकों के हाथों के तोते उड़ाने को काफी है।

दरअसल, प्रेमचंद को समझने के लिए आज जिस चष्मे का इस्तेमाल सुनियोजित ढंग से किया जा रहा है, मुझे लगता है नई आंखों की नई रोषनी ही सत्ता के उन दलालों का पर्दाफास कर सकती है।

प्रेमचंद ने हमेशा जनता के लिए संघर्ष किया। उनका समस्त जीवन ओर लेखन दलितों, वंचितों के लिए उत्सर्जित था। उन्होंने भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का सभापतित्व करते हुए स्पष्ट कहा था—

“जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है, चाहे वह व्यक्ति हो या समूह—उसकी हिमायत और वकालत करना साहित्यकार का फर्ज है। अतः हमारे पंथ में अहंवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रश्रय देना वह वस्तु है जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है और ऐसी कला हमारे लिए न व्यक्तिगत रूप से उपयोगी है और न समुदाय रूप में।

प्रत्येक समाज के अपने अन्तर्विरोध होते हैं, विचलन होती है। कुदंन तो आग में तपकर और निखरता ही है। यह उनके रचनात्मक व्यापकता का महत्वपूर्ण मुकाम है कि उनकी परंपरा के कई महान् लेखकों की लंबी फेहरिस्त से हिन्दी साहित्य आज फल-फूल रहा है—यषपाल, भगवतीचरण वर्मा, नागार्जून, रांगेय राघव, फणीष्वरनाथ रेणु, अमृतलाल नागर, शैलेष

मटियानी, अमरकांत, मार्कण्डेय, षिवप्रसाद सिंह, मधुवन सिंह, मिथिलेश्वर, ज्ञानरंजन, मैत्रेयी पुष्पा। उधर विरोधी स्वर वालों की क्या स्थिति है? क्या यह खामोश नहीं हो गया है?

यह ठीक है कि प्रेमचंद का युग हमारे युग से बहुत पीछे रह गया लेकिन क्या वर्गीय विसंगतियां और मानवीय यातनाओं में कोई अंतर आया है? ठीक है कि प्रेमचंद का अनुकरण हमें नहीं चाहिए, उपलब्धियों भी नहीं चाहिए लेकिन सरोकार? संवेदना? अंतर्दृष्टि और मानवीय लगाव? आज फिर नयी पीढ़ी के सामने प्रेमचंद चुनौती लेकर सामने खड़े है—

हमें हुस्न का मेयार तब्दील करना होगा।

यदि आज इक्कीसवीं सदी में भी हम यह महसूस करते हैं कि समाज में सांप्रदायिक अथवा जातिवादी अथवा स्त्री विरोधी ताकतों के बल में इजाफा हुआ है तो निष्चय ही हमें सत्ता और व्यवस्था के चरित्र को समझना होगा, उसे बदलने का प्रयास करना होगा—

“आखिर कश्मेकष हयात में ही हुस्न का मेराज है।”

मुक्तिबोध के शब्दों में जीवन-संग्राम में ही तो सौंदर्य का चरमोत्कर्ष है। क्या यही प्रेमचंद की रचनात्मक गहराइयां भी नहीं है?

संदर्भ ग्रंथ

1. प्रेमचंद परिचर्चा—संपादक, लोढा और रामचन्द्र तिवारी, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1979-80 पृ. 38
2. कफन(अंतिम कहानी संग्रह के आहृति से 1930-1935)
3. प्रेमचंद परिचर्चा—संपादक लोढा और रामचंद्र तिवारी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1979-80, पृ. 52

4. प्रेमचंद के विचार, भाग-प्रथम, भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1989. पृ. 71
5. प्रेमचंद-रामविलास शर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली 1941 पृ. 39
6. प्रेमचंद ऑन कॉन्टेम्पररी- संपादित शिव कुमार मिश्रा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1986 पृ. 62
7. समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचंद-डॉ. महेन्द्र भटनागर, ज्ञान भारती प्रकाशन, दिल्ली-1982 पृ. 82